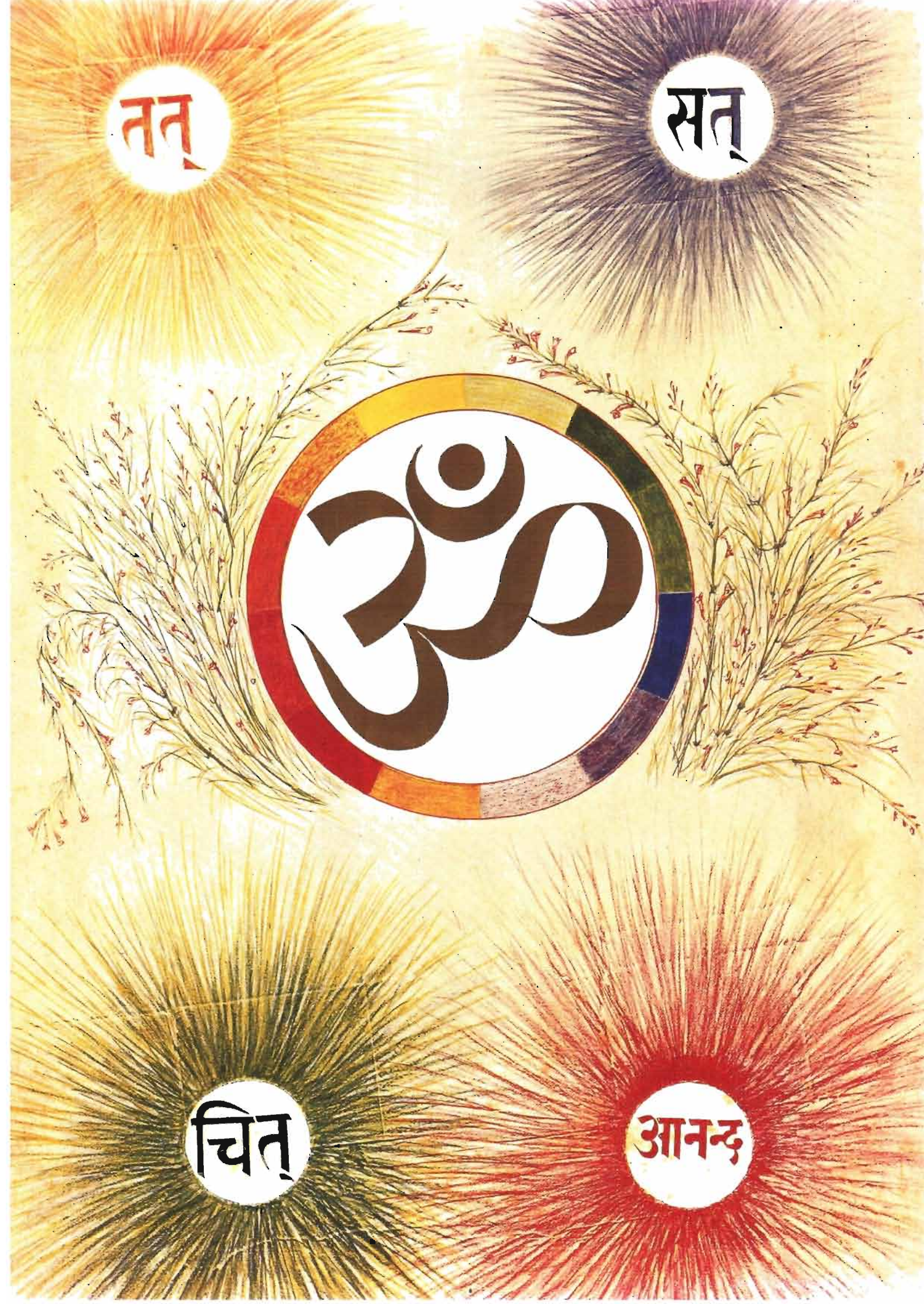
तत्
सत्
ॐ
चित्
आनन्द

ॐ आनन्दमयी चैतन्यमयी सत्यमयी परमे

OM- She- the Delight

She, the Consciousness

She, the Truth

She, the Supreme

***

माँ भगवती से प्रार्थना

ओ आनन्दमयी तू सतत हमारे हृदय की गुह्यता में बसती है,
जब कि मानव तुझे बाहर खोजता है और कभी नहीं पाता है,
तू दिव्य रहस्य और वैदिक भाषा की देवी सरस्वती है,
अपनी तेजस्विनी शक्ति के विशुद्ध आवेग के साथ अवतरित हो, मां,
इस पृथ्वी पर निज चैतन्य जीवंत रूप को दिव्य कार्य पूर्ति हेतु पठा दे मां ।
एक काल क्षण को अपनी अमरता से पूर्ण कर दे,
एक देह में अपनी नित्यता को जीवित कर दे,
एक मानस को पूर्ण सत्य–ज्ञान के ज्योति सागर में डुबो दे,
एक मानवीय हृदय में विश्व प्रेम का एकाकी स्पंदन जगा दे।
अमर दिव्यता, नाशवान चरणों से इस धरती पर विचरण करते
पार्थिव अंगों में सकल सुरलोक का रूप लावण्य इनमें एकत्रित हो जाये।
ओ शक्तिमयी, एक मानवीय संकल्प की गतियों और क्षणों में
प्रभु की शक्ति–ओजस्विता की मेखला पहना दे
एक मानव की घड़ी को इतनी शाश्वत सामर्थ्य से भर दे
और जो एक भंगिमा के संकेत से सकल भावी काल को रूपांतरित कर दे।
मां, निज उच्च शिखरों से एक महा–मंत्र उच्चारित कर दे
और एक महती क्रिया द्वारा घोर नियति के द्वारों को खोल दे।

***

SACHCHIDANANDA

God is Sachchidananda. He manifests Himself as infinite existence of which the essentiality is consciousness, of which again the essentiality is bliss, is self-delight

SRI AUROBINDO

The Supreme is pure Being, Absolute Existence, *SAT*.....
The Supreme is also Pure Awareness, Absolute Consciousness, *CIT*.....
The Supreme is, finally, Pure Ecstasy, Absolute Bliss, *ANANDA*.

SRI AUROBINDO

Sachchidananda

Strong and pure, it stands erect in its creative power.

(Hedychium White) Name & significance has given by the Mother.

प्रार्थना और ध्यान

सत्ता के प्रत्येक स्तरमें हमें चेतना को जाग्रत करना चाहिये जिससे उसे पूर्ण स्थिति, ज्ञान और आनंद का बोध प्राप्त हो। ये तीनों जगत् या भगवान् की तीनों धाराएं जिस तरह दिव्य शक्ति और ज्योति के लोक में है तथा जिस तरह नैर्व्यक्तिक अनंत एवं शाश्वत स्थितयो में है उसी तरह भौतिक वस्तु सत्ता में भी है। जब हम पूर्ण सचेतन होकर उच्चतर लोको में प्रवेश करते है तब इस स्थिति इस ज्योति और इस आनंद को जीवन में उतारना आसान होता है, प्रायः अनिवार्य होता है। परंतु जो बात बहुत महत्वपूर्ण है, और साथ ही बहुत कठिन भी है, वह है अत्यंत स्थूल जगतों में सत्ता को इस विविध चेतना के प्रति जागृत करना। यह है पहली बात । उसके बाद हमें ढूंढ़ निकालना होगा सभी दिव्य जगतों का केंद्र (निसंदेह मध्यवर्ती जगत् के अदंर) जहाँ से हम इन दिव्य जगतों की चेतना को एक साथ युक्त कर सके उनमें समन्वय स्थापित कर सकें ताकि उन सभी लोकों में एक साथ तथा पूर्ण चेतना से युक्त होकर कार्य किया जा सके।

हे भगवान्! मैं जानती हूं कि जो परम सत्य तुझे अभिव्यक्त करता है, उससे ये सब अपूर्ण और अधूरी व्याख्याएं कितनी दूर अलग पड़ी हुई है । तेरी ज्योति, तेरी शक्ति, तेरी महिमा और तेरा अपरिमेय प्रेम समस्त व्याख्या और समस्त भाष्य के परे है। परंतु मेरी बुद्धि को इस बात की आवश्यकता है कि वह चीजों को कम–से–कम एक कटी–छंटी परिकल्पना के रूप में अपने सामने रखे जिसमें कि सत्ता के जड़तम भाग भी यथा संभव पूर्ण रूप में अपने–आपको तेरी इच्छा के अनुरूप बना सकें।

फिर भी, अपनी मौन और अंखड आराधना की गंभीर नीरवता में ही मैं तुझे सबसे अधिक समझ पाती हूं। क्योंकि उस समय कौन कह सकता है कि कौन प्रेम करता है। किसे प्रेम किया जाता है और स्वयं प्रेम की शक्ति क्या है? उस समय तीनों ही अनंत आनंद के अंदर घुल–मिलकर एक बन जाते है।

हे भगवान्! सब को इस अनुपम आनंद का वरदान प्रदान कर।

– श्री मां

27 May, 1914

ॐ

सच्चिदानंद – अव्यक्त जो सब प्रकार की अभिव्यक्ति को संभव बनाता हैं।

।। अभिव्यक्त सच्चिदानंद ।।

1. सत् (जिसमें चित्–तपस् और आनंद सन्निहित हैं)।
2. चित् (जिसमें सत् और आनंद अंतर्हित हैं)।
3. आनंद (जिसमें सत् और चित्–तपस् सन्निविष्ट हैं ।

सत् अपनी अभिव्यक्ति के लिये तैयार सच्चिदानंद का शाश्वत और अनंत सत्य है। यह एकमेव सत्ता है, पर इसमें दो एक के अंदर, प्रत्येक–प्रत्येक के अंदर, प्रत्येक दूसरे के अंदर पूर्ण है।

भगवान सर्व सत्ता है, किन्तु वह अद्वितीय सत्त है

ऊँ अभिव्यक्ति हैं। महाशक्ति सृष्टि के लिये परात्पर के अंदर से बाहर आ जाती है। शाश्वत अभिव्यक्ति के अंदर एकमेव में द्वैत की सत्ता एक–दूसरे के लिये सुस्पष्ट है; द्वैत की एकात्मता और एकत्व वैभिन्य की इस लीला का आधार है और साथ ही इसका इस सत्य पर अधिकार भी है जो अभिव्यक्ति को स्थायी और शाश्वत बनाता है।

कालगत सृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है कि चित् और आनंद से सत् पृथक् हो गया है। इसीलिये निश्चेतना की कीड़ा का होना और अज्ञान तथा अज्ञानमयी माया की सृष्टि का होना संभव हो जोता है। तब यह आवश्यक हो जाता है कि चित्–शक्ति सत्–पुरूष को अपने तथा अपनी सृष्टि के सम्मुख प्रकट करे, उनके साथ परिपूर्ण रूप में युक्त हो और आनंद के अंदर उनके साथ अपनी सच्ची एकात्मता और एकत्व को पुनः प्राप्त करे। ऐसा लगता है कि वह चित्–शक्ति सत्–पुरूष से ही बहिर्गत हुई है, पर सर्वदा वह उनमें ही है और वह सत्–पुरूष उस चित्–शक्ति में है। इसी प्रच्छन्न सत्य को प्रकट होना होगा और फलोत्पादक बनना होगा और इस सत्य की प्राप्ति ही उस नवीन सृष्टि का गुप्त रहस्य है जिसमें अतिचेतन और निश्चेतन सचेतन बन जायेगें तथा परात्पर सच्चिदानंद (एकमेव दो में और दो एकमेव में) से भर जायेंगें।

–श्री अरविंद

–भागवत मुहूर्त्त

सच्चिदानंद की लीला का आनंद

ऊँ । वह सत् है, जो सत् है वही चित् है, और जो चित् है वही आनंद है। कुछ आनंदहीन, दुःख से भरा हुआ या कमजोर या अज्ञान से भरा मालूम होता है वह सब आनंद का ही विकार है, आनंद का ही खेल हैं।

यह जो जीव है वह छिपे रूप में आनंदमय भगवान् ही है। वह इस जगद्रूपी ब्रह्म का – जो उसकी अपनी ही अभिव्यक्ति है– उपभोग करने लिए नीचे उतरा है। यह जो दुःख का भोग है वह भी आनंदमय भोग है। आनंदमय भगवान् आनंद का ही भोग करता है।

निरानन्द का भोग करने का साहस कौन कर सकता है? जो सर्व आनन्दमय है वही साहस कर सकता है क्योंकि जो निरानन्द है वह आनन्दहीन का भोग करते हुए आनंद का उपभोग कर ही नहीं पायेगा और आनंद के बिना नष्ट हो जायेगा। दुर्बल कौन बन सकता है? जो सर्वशक्तिमान है वही बन सकता है। क्योंकि दुर्बलता से घिरा हुआ व्यक्ति टिक ही नहीं पायेगा और शक्ति के बिना नष्ट हो जायेगा। अज्ञान के अंदर जाने में कौन समर्थ होगा, वही जो सर्वज्ञानमय है। अज्ञानी तो उस अंधेरे में जी ही नहीं सकेगा क्योंकि असत तो असत ही रह जायेगा और वह ज्ञान के बिना नष्ट हो जायेगा। अज्ञान, ज्ञान का खेल है जो अपने अंदर ही अपने–आपको छिपाये हैं। शक्ति का खेल है दुर्बलता, आनंद का खेल है निरानन्द। दोनों ही अपने अंदर अपने–आपको छिपाये हुए हैं।

इस भाव का मूल अज्ञान ही है कि मैं सांत हूँ, मैं दुर्बल हूँ मैं दुखी हूँ, मुझे काम करना चाहिए, मुझे जानना चाहिए, मुझे प्रयास के–द्वारा, तपस्या के द्वारा, प्राणों का बलिदान करके भी पाना चाहिए। तुम वह हो, मैं यह हूँ, जो तुम हो वह मैं नहीं हूँ, जो तुम्हारे लिए शुभ है वह मेरे लिए अशुभ है, जिससे तुम्हारा लाभ होता है, उससे मेरी हानि होती है। तुम्हें मार डालू तो मैं सुखी हो जाऊँगा, मैं सात्विक स्वभाव वाला नहीं हूँ जो अपने–आपको दुख देकर, अपनी हानि सहकर, अपनी मृत्यु को स्वीकार करके तुम्हे सुखी बनाऊँ–इत्यादि बातें उस अज्ञान का रूप हैं जो मन में रहता है।

इसका बीज अंहकार ही है। अहंकार से छुटने पर ही अज्ञान से मुक्ति मिलती है। अज्ञान से छूटकर ही जीव दुःख–दर्द से छूटता है। मैं आनंदमय हूँ, मैं वही ब्रह्म हूँ , मैं एक हूँ मैं अनंत हूँ, मैं सर्व हूँ –यह जानकर जीव आनंदमय हो जाता है, अपने–आप आनंद बन जाता है।

—श्री अरविन्दोपनिषद्

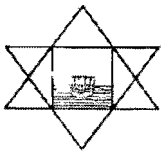

अस्तित्व का आनंद

यदि हम जगत्–सत्ता को नित्य विद्यमान शाश्वत सत्–पुरूष के आत्मानंद के संबंध में देखें तो हम उसे इस रूप में देख सकते हैं, उसका वर्णन और अनुभव कर सकते है कि यह लीला है, सर्वभूतांतरात्मा का खेल है, बालक का आंनद, कवि का आनंद, अभिनेता का आनंद और यांत्रिक का आनंद है, यह आत्मा चिर किशोर और चिर अक्षय है, यह आनन्द के लिये ही अपने –आपको अपने अन्दर सृष्ट और पुनर्सृष्ट करता रहता है, वह स्वयं खेल है, वही खिलाड़ी है और वह अपने–आप ही खेल का मैदान भी है।

यह सत्य हमारे सामान्य जीवन में हमसे छिपा रहता है या कभी–कभी केवल उसकी घूमिल झांकी मिल जाती है या हम उसे अपूर्ण रूप से ही पकड़ पाते और उसकी धारणा कर सकते हैं। किंतु, यदि हम अंदर रहना सीख जायें तो अवश्यमेव हम अपने अंदर की इस दिव्य विद्यमानता के प्रति जाग्रत् होते है जो हमारा अधिक सत्यतर आत्मा है। यह विद्यमानता निगूढ़, गंभीर, स्थिर, आनंदपूर्ण और शक्तिशाली होती है ओर जगत् इसका स्वामी नहीं है; वह यदि स्वयं परम प्रभु नहीं भी है, तो अंदर के प्रभुका विकिरण तो अवश्य है। हमें इस विद्यमानता की इस रूप में संवित् होती है कि वह, अंतःस्थित रहती हुई, प्रतीयमान और बहिरात्मा को आधार और सहायता देती है और उसके सुख और कष्ट पर इस भाँति मुस्कराती है जैसे छोटे बच्चे की भूल और उसके आवेशों पर। और यदि हम अपने अंदर वापस जा सकें और अपने–आपको अपने ऊपरी अनुभव के साथ नहीं, बल्कि भगवान् की उस ज्योतिर्मयी उपच्छायाके साथ एकात्म कर सकें, तो हम जगत् के सर्म्पकों के संबंध में उसी अभिवृत्तिके साथ रह सकते हैं और अपनी सम्पूर्ण चेतना में शरीर, प्राण–सत्ता और मन के सुख और कष्ट से अलग हट कर उन्हे ऐसे अनुभवों के रूपमें ग्रहण कर सकते हैं जिनका स्वरूप ऊपरी होने के कारण हमारे अंतस्तत्व और यथार्थ सत्ता का स्पर्श नहीं करता, उन पर अपने आपको आरोपित नहीं करता। इसे सम्पूर्णता से व्यक्त करने–वाले संस्कृत शब्दों में कहें तो मनोमय के पीछे एक आनंदमय है, सीमित मनोमय पुरूष के पीछे एक वृहत् आनन्दमय पुरूष है, मनोमय आनंदमय का एक छाया प्रतिरूप ओर क्षुब्ध प्रतिबिंब ही होता है। हमारे स्वरूप का सत्य अंतर में रहता है, बाहर सतह पर नहीं।

दुःख का स्वरूप है हमारे अन्दर चित्–शक्ति का जीवनके आघातों का सामना न कर पाना और परिणाम–रूप में जुगुप्सा संकोचन और सिकुड़न का होना। उसका मूल है उस ग्रहणकारी और अधिकृतकारी शक्ति की विषमता। उस विषमता का कारण है हमारा अंहकार–जनित आत्मपरिसीमन। और यह अहंकार हमारे अपने सच्चे आत्मा के प्रति, सच्चिदानंद के प्रति अज्ञानी रहने का परिणाम हैं। अतएव दुःख का विलोपन करनेके लिये पहले जुगुप्सा के स्थान पर तितिक्षा को लाना होना, संकोचन और सिकुड़न के स्थान पर जीवन के आघातों का सामना करना होगा, उन्हे सहन करना और जीतना होगा। इस तितिक्षा और विजय से हम ऐसी समता की ओर आगे बढ़ते है जो या तो सारे सर्म्पकों के प्रति समान रूपसे उदासीनता का या सारे सर्म्पकों के अन्दर समान रूपसे प्रसन्नता का रूप ले सकती है। और फिर, जो अहंचेतना अभी सुख और दुःख भोगती है, उसके स्थान पर सच्चिदानंद–चेतनाको प्रतिष्ठित करके, जो कि सर्वानंद–चेतना है, उसी की नींव पर इस समता को अपना दृढ़ आश्रय पाना होगा।

इस सृष्टिमें यथार्थ सच्चिदानंदको उन्मज्जित होना है। मानव व्यक्ति को वैश्व पुरूष बनना और वैश्व पुरूष की भांति जीना है। उसकी सीमित मनश्चेतना को विशाल होकर अतिचेतन एकत्व हो जाना है जहाँ प्रत्येक सर्व का आलिंगन करता है; उसके संकीर्ण हृदय को असीम आलिंगन सीखना है और अपनी वासनाओं और असंगतियों के स्थानपर उसे विश्व–प्रेम प्रतिष्ठित करना है और उसकी सीमित प्राण–सत्ताको अपने ऊपर होते हुए विश्वके समग्र आघातको सहने योग्य और विश्वानंद के लिये समर्थ होना है; उसकी शारीरिक सत्ता को अपने–आपको इस रूपमें जानना है कि वह कोई पृथक इकाई नहीं, वरन् जो अविभाज्य शक्ति सब कुछ है, उसके समग्र प्रवाहके साथ वह एकात्म है और उसे वह अपने अंदर धारण किये हुए है; उसकी सारी प्रकृति को व्यक्ति के अंदर परम सत्–चित्–आनंद के एकत्व, सामंजस्य और सर्वानुस्यूत 'एक' को मूर्त करना होगा।

–122. 129 दिव्य जीवन

जो स्थायी, शाश्वत, अमर और अनंत हो, वस्तुतः वही पाने योग्य है, जीतने योग्य है, अधिकृत करने योग्य है। वह है 'दिव्य ज्योति', 'दिव्य प्रेम' 'दिव्य जीवन' – वह 'परम शांति', 'पूर्ण आनंन्द' और धरती पर 'पूर्ण प्रभुत्व' भी है और इसका मुकुट है 'पूर्ण भागवत अभिव्यक्ति'।

–दिव्य जीवन

प्रश्नः हम अपनी सच्ची सत्ता को कैसे जाने ?

सबसे पहले आवश्यक चीज है भगवान के लिए अभीप्सा। और दूसरी बात है इस अभीप्सा को सतत् बनाए रखना, उसे सदा जीवंत ज्वलंत और जाग्रत रखना। और इसके लिए जिस बात की आवश्यकता है वह है एकाग्रता – भगवान पर एकाग्रता जो उनके संकल्प के प्रति पूर्ण आत्म समर्पण भाव से की गई हो।

हृदय की गम्भीर शांति में एक अग्नि जल रही है। यही है तुम्हारे अंतर में रहने वाले भगवान का दिव्य अंश–तुम्हारी सत्य सत्ता (हृत्पुरूष) इसकी आवाज सुनो और इसके आदेश का पालन करों।

चैत्य तुम्हारे अन्दर जलने वाली निष्कम्प ज्वाला है जो हमेशा भगवान की ओर उठती है। उसमें शक्ति का भाव होता हे जो सारे विरोध को तोड़ देता है। जब तुम उसके साथ एक होते हो तो तुम्हे भागवत सत्य की अनुभूति होती हैं। और तब तक तुम सच्चे व्यक्ति भी नही बन सकते जब तक कि तुम चैत्य को ही अपना स्व न अनुभव करो क्योकि सचमुच वही तुम्हारे अन्दर सच्चा रूप है। जब तक तुम अपने सच्चे रूप को न जान लो तब तक तुम एक सत्ता नही, एक सार्वजनिक स्थान हो। तुम्हारे अन्दर बहुत सारी शक्तियां आपस में टकराती हुई काम करती है। एक बार तुम सचेतन हो जाओ तो तुम देख सकोगे कि कौनसी शक्तियां तुम्हें नीचे की ओर खींचती हैं, और कौनसी ऊपर उठने में सहायता देती है। और जब तुम सत्य को असत्य से अलग करके जान सको तो जो कुछ दिव्य हो उसे स्वीकार करना और जो कुछ अदिव्य हो उसे इन्कार करना होगा।

तुम्हारी चेतना की गहराई में तुम्हारे अंदर रहने वाले भगवान का मंदिर तुम्हारा चैत्य पुरुष है। यही वह केन्द्र है जिसके चारों ओर तुम्हारी सत्ता के इन विभिन्न भागों को एवं परस्पर विरोधी गतियों को जाकर एक हो जाना चाहिये। तुम एक बार चैत्यपुरुष की चेतना और उसकी अभीप्सा को पा लो तो सब संदेहों, कठिनाइयों को नष्ट किया जा सकता है। इस काम में कम या अधिक समय तो लगेगा, परन्तु अंत में तुम अवश्य सफल हो जाओगे।

***

कोई चीज भागवत चेतना के साथ एक होने से बढकर सुन्दर नहीं है। तुम जिसे खोज रहे हो उसे अवश्य पाओगे–यदि तुम पूरी सच्चाई के साथ खोजो–क्योंकि तुम जिसे खोज रहे हो वह तुम्हारे अंदर ही है।

–श्री मां

प्रश्नः चेतना क्या वस्तु है?

एक यह है जो एक मजाक है कि चेतना अचेतना का उल्टा है।

दूसरी – यह विश्व का सृजनकारी तत्व है– चेतना के बिना कोई जीवन नही, कोई ज्योति नही कोई वास्तवीकरण नही कोई सृष्टि नही कोई विश्व नही।

चेतना का तात्पर्य है। वास्तवीकरण। 'चेतना' ही सारी सृष्टि का मूल है –चेतना के बिना कोई सृष्टि नही हो सकती और जिसे हम लोग चेतना कहते है वह परस्पर चेतना के साथ प्राप्त ठीक एक सुदूर संपर्क होता है जिसमें सुनिश्चितता और सुस्पष्टता नही होती अथवा यदि तुम कहना चाहो वह मूल चैतन्य का एक प्रतिबिंब होता है और वह भी किसी बहुत दुरुस्त या शुद्ध दर्पण में पड़ा हुआ नही जिसे हम अपनी चेतना कहते है वह यह मूल 'चैतन्य' ही है जो कुछ कुछ धुंधले दर्पण में बहुत ही धुंधला प्रतिबिंब होता है और (कभी कभी तो दर्पण बहुत ही धुंधला होता है और कभी कभी बहुत विकृत) यह प्रतिबिंब व्यक्तिगत दर्पण में पड़ा होता है परन्तु इस प्रतिबिंब को पकडकर, यदि धीरे धीरे उस वस्तु के मूल तक चले जायें जो प्रतिबिंबत हुई हैं तो हम चैतन्य–सत्य चैतन्य के साथ संपर्क प्राप्त कर सकते हैं। और जब हम एक बार सत्य चेतन्य के सम्पर्क मे आ जाते है तो हम अवगत हो जाते हैं कि सर्वत्र एक ही चेतना है वास्तव में केवल विकृति ही इसे विभक्त करती हैः यदि विकृति न हो तो प्रत्येक वस्तु मात्र उसी चैतन्य के द्वारा धारित होती है। अर्थात केवल विकृति ही, विकृत करने वाले आइने में पड़ा हआ प्रतिबिंब ही चैतन्य के अन्दर विभेद और विभाजन उत्पन्न करता है अन्यथा वह केवल एक ही चैतन्य है। परन्तु एक मात्र अनुभव के द्वारा ही मनुष्य इन बातों को समझ सकता है।

–239.40 मातृवाणी

हमें तो बस एक क्रियात्मक तथ्य को सत्ता में धारण कर लेना होगा कि आत्म विभाजन ही हमारी चेतना की सीमितता का कारण है और इस सीमितता के कारण हम अपने अस्तित्व और अनुभव का सच्चा स्वरूप उपलब्ध करने मे असर्मथ बन बैठे हैं और अतःएव अपने मन, प्राण, और शरीर में अज्ञान, असर्मथता और दुःख कष्ट के अधीन हो गये हैं। एकत्व की अप्राप्ति ही मूल कारण हैः एकत्व को फिर से प्राप्त करना ही सर्वोपरि साधन है– यह एकत्व हमें विराट के साथ ही नही उस सत्ता के साथ भी प्राप्त करना होगा जिसे प्रकट करने के लिए यहाँ विराट आत्मा उपस्थित है। हमें अपने तथा सबके सच्चे आत्मा का साक्षात्कार करना होगा और सच्ची आत्मा के साक्षात्कार का मतलब है सच्चिदानंद का साक्षात्कार।

–योग समन्वय

आनन्द

जब हम चित्त को प्राप्त कर लेते, देख लेते या जान लेते है, तो हमें यह भी पता लग जाता है कि इसका सारत्त्व है अपनी सत्ता का आनन्द।

आत्मा को प्राप्त करने का अर्थ है आत्मानंद प्राप्त करना–आत्मा को प्राप्त न किये होने का अर्थ है सत्ता के आनंद को कम या अधिक अस्पष्ट खोज में लगें रहना। चित्त सनातन काल से अपने आनंद से युक्त है। भगवान चाहे अपने–आपको सर्वगुणमय रूप में प्रकट करें या निर्गुण रूप में, व्यक्तित्व के रूप में या निर्व्यक्तित्व के रूप में, बहु को अपने अन्दर विलीन किये हुए एकमेव के रूप में अथवा अपने तात्विक बहुत्व को प्रकट करते हुए एकमेव के रूप में पर वे सदा ही आत्मानंद और विराट आनंद को अधिकृत किये रहते हैं क्योकि वे नित्य ही सच्चिदानंद है। हमारे लिये भी अपने सच्चे आत्मा को उसके मूल और विराट् स्वरूप में जानने और प्राप्त करने का अर्थ है सत्ता का मूल और विश्वव्यापी आनंद आत्मानंद और विराट आनंद उपलब्ध करना क्योकि विराट् आत्मा मूल सत्ता, चेतना और आनंद का बाहर की ओर प्रवाह मात्र है और जहां कहीं तथा जिस भी रूप में यह अपने को किसी सत्ता के आकार में प्रकट करता है वहाँ मूल चेतना का अस्तित्व अवश्य है और अतएव वहाँ मूल आनंद भी अवश्य विद्यमान है।

जिसे हम दुःख, शोक, पीड़ा एवं आनंद का अभाव कहते है वह भी सत्ता के आनंद की एक उपरितलीय लहर मात्र है जो हमारे मानसिक अनुभव के निकट ये आपात–विरोधी रंग–रूप धारण कर लेती है और इसका कारण यह है कि एक प्रकार की माया के वश हमारी विभाजित सत्ता इस लहर को अपने अंदर एक मिथ्या रूप में ही ग्रहण करती है। यह विभजित सत्ता हमारी सत्ता बिल्कुल ही नही है, बल्कि चिच्छक्ति की एक खण्डात्मक रूप–रचना या विकृत फुहारमात्र है जिसे हमारी आत्मासत्ता के अनंत सागर ने ऊपर की ओर उछाल फेंका है। इस सत्य को अनुभव करने के लिए हमें अपनी मनोमय सत्ता की इन उथली आदतो एवं क्षुद्र चालो में ग्रस्त रहने की अवस्था से परे हट जाना होगा, और जब हम निश्चित रूप से इनके पीछे और परे हट जाते है तो हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि ये कितनी छिछली व हल्की है व इन पर हंसी ही आती है। इसके साथ ही हमें सच्ची सत्ता और सच्ची चेतना को तथा सत्ता और चेतना की सच्ची अनुभूति को, सत्, चित्त और आनंद को भी उपलब्ध करना होगा।

–योग समन्वय

सच्चिदानंदकी व्यक्त सत्ता के सात मूलतत्व

हमें सच्चिदानन्द का साक्षात्कार इस रूपमें करना होगा कि वे एकमेव सत्ता हैं, ऐसे सत् हैं जो अपनी सत्ता की सत्ता में समाहित है और साथ ही सब सत्ताओं में प्रकट भी हो रहें हैं, वे एक ऐसी एकमेव चेतना हैं जो अपनी आत्म–समाहित चेतना की विश्रांति में स्थितिशील है और अपनी विस्तृत चेतना की सक्रियता में गतिशील; वे एक ऐसा एकमेव आनंद है जो अपनी अलक्षण अनंतता से आनंदमय रूपमें सचेतन है तथा समस्त लक्षणों, शक्तियों और रूपों को अपनी सत्ता जानता हुआ उनसे भी आनंदमय रूपमें सचेतन है; वे एक ही सर्जनशील ज्ञान एवं शासक संकल्प हैं जो अतिमानसिक है; तथा सब मनों, प्राणों और शरीरों को उत्पन्न एवं निर्धारित करता है; वे एक ही विराट् मन है जो सब मनोमय सत्ताओं को अपने अंदर समाये है और उनकी सब मानसिक क्रियाओं का गठन करता है; वे एक ही विराट् प्राण हैं जो सभी सजीव सत्ताओं में क्रियाशील है तथा उनके प्राणों की क्रियाओं का जनक है; वे एक ही उपादान–तत्व हैं जो सब रूपों तथा पदार्थों को एक ऐसे प्रत्यक्ष एवं इन्द्रियगोचर साँचे के रूपमें निर्मित करता हैं जिसमें मन और प्राण व्यक्त होते तथा कार्य करते है, जिस प्रकार कि एकमेव शुद्ध सत्ता वह आकाशतत्व है जिसमें समस्त चिन्मय–शक्ति और आनंद एक होकर रहते है तथा आपने–आपको नाना रूपोंमें प्राप्त करते हैं। क्योकि ये सच्चिदानंदकी व्यक्त सत्ताके सात मूलतत्व हैं।

करणों का रुपांतर

सर्वांगीण ज्ञानयोग को इस अभिव्यक्ति के दोहरे स्वरूपको हृदयंगम करना होगा, – क्योंकि एक तो है सच्चिदानंद की उच्चतर प्रकृति जिसमें वे हमें उपलब्ध होते हैं और दूसरी है मन, प्राण तथा शरीर की निम्नतर प्रकृति जिसमें वे हमसे छुपे रहते हैं,–सर्वांगीण ज्ञानयोगको इन दोनोंको प्रदीप्त साक्षात्कारकी एकतामें समन्वित तथा एकीभूत करना होगा। हमें इनको इस प्रकार पृथक नहीं रहने देना होगा कि हम एक तरहका दोहरा जीवन बिताते रहें जो अंतरमें या ऊर्ध्वमें तों आध्यात्मिक हो तथा हमारें सक्रिय और पार्थिव अस्तित्व में मानसिक तथा भौतिक; हमें तो निम्नतर जीवनको उच्चतर सद्वस्तु की ज्योति, शक्ति और आनंद के उस दृष्टिकोण से पुनः देखना तथा उसे उसीके अनुसार ढालना होगा हमें अनुभव करना होगा कि जड़तत्व आत्माका इन्द्रिय–रचित साँचा है, अर्थात् पार्थिव सत्ता और क्रिया की उच्चतम अवस्थाओं में सच्चिदानंद की ज्योति, शक्ति और आनंद की किसी प्रकारकी भी अभिव्यक्ति करने के लिये एक साधन है। हमें यह देखना होगा कि प्राण अनंत दिव्य शक्ति के बीच हमारी इन्द्रियों ओर मन ने दूरी और भेद की जो दीवार खड़ी कर रखी है उसे तोड़ गिराना होगा, ताकि वह दिव्य शक्ति हमारी सभी प्राणिक क्रियाओं को अपने अधिकार में लाकर उन्हें संचालित

तथा परिवर्तित कर सके जिससे कि अंत में हमारा प्राण रूपांतरित होकर आज की तरह मन ओर शरीर को धारण करनेवाली सीमित प्राण–शक्ति रहना छोड़ दे और सच्चिदानंदकी आनंदपूर्ण चिच्छक्तिकी प्रतिमा बन जाय। इसी प्रकार हमें अपने संवेदानत्मक और भावप्रधान मनको दिव्य प्रेम और विराट् आनंदकी लीलाका रूप दे देना होगा; और हमें अपने अंदर ज्ञानकी प्राप्ति तथा संकल्पके प्रयोगके लिये प्रयत्न करनेवाली बुद्धिको दिव्य ज्ञान–संकल्पकी ज्योतिसे परिपूरित करना होगा जिससे कि अंतमें वह इस उच्चतर और महान् क्रियाकी प्रतिमूर्ति में रूपांतरित हो जाये।

अतिमानस का आलोक

यह रूपांतर तबतक पूर्ण या वस्तुतः साधित नहीं हो सकता जबतक हमारे अंदर सत्य–चेतन मन जागरित नहीं हो जाता, क्योंकि मनोमय प्राणी में यह सत्य–चेतन मन ही अतिमानस से संपर्क रखता है। तथा इसकी ज्ञानरश्मियों को मानसिक रूपमें ग्रहण कर सकता हैं।

अतिमानसका अर्थ हैं। ज्ञानपूर्ण संकल्प एवं फलोत्पादक ज्ञान। यह अनंततामेसे वैश्व व्यवस्थाका सृजन करता है। वेदमें कहा गया है कि जब यह जागरित होकर सक्रिय हो उठता है तो द्युलोक की अबाध धारा को, ज्योति, शक्ति और आनंद के ऊर्ध्ववर्ती सागर से सात सरिताओं के परिपूर्ण प्रवाह को, उतार लाता हैं। यह हमें सच्चिदानंद का साक्षात्कार करा देता हैं। यह हमारे मन के विकीर्ण तथा असंबद्ध सुझावों के पीछे विद्यमान सत्य को प्रकाशित कर देता है और उनमे से प्रत्येक को इस सत्य की एकता में अपने–अपने स्थान पर विन्यस्त कर देता है; इस प्रकार यह हमारे मनों की अपूर्ण ज्योति को एक प्रकार की पूर्ण ज्योति में रूपांतरित कर सकता है। यह हमारे मानसिक संकल्प, आवेशपूर्ण इच्छाओं और प्राणिक प्रयत्नों के समस्त भ्रांत एवं अपूर्णतः व्यवस्थित संघर्ष के पीछे विद्यमान संकल्प– शक्ति की एकता में अपने– अपने स्थानपर विन्यस्त कर देता है; इस प्रकार यह हमारे प्राण और मन के अर्द्ध–अंधकारमय संघर्ष को व्यवस्थित शक्ति की एक प्रकार की समग्रता में रूपांतरित कर सकता है। यह उस आनंद को हमारे सम्मुख प्रकाशित कर देता है जिसे हमारा प्रत्येक संवेदन एवं भावावेग अंधवत् खोज रहा है और जिसे पानेकी चेष्टा करते हुए हमारे सभी संवेदन एवं भावावेग अंशतः गृहीत संतोष की या फिर असंतोष, दुःख, वेदना या उदासीनता की गतियों का अनुभव करके उससे पीछे आ पड़ते हैं, और यह उनमेंसे प्रत्येक को पीछे अवस्थित विराट् आनंदकी एकता में उसका अपना स्थान प्राप्त करा देता है।

एकत्व में उल्लास

अतिमानस से संबंध सच्चिदानंदकी विराट् सत्ता, चेतना, शक्ति और आनंदके साथ जोड़ देता है। इस प्रकार यह हमारे लिये सत्ता के सभी विराधों, द्वेतभावों और विपर्ययोंको सुसंगत करकें उनके अंदर हमें एकमेव तथा अनंतके दर्शन करा देता है। इस अति–मानसिक ज्योति में उन्नीत होकर सुख, दुःख और उदासीनता–ये सभी एक ही स्वयम्भू आनंदके उल्लासमें परिवर्तित होने लगते है,

हमारा समस्त जीवन तथा हमारी समस्त मूल सत्ता सच्चिदानंदकी प्राप्ति–रूप हो जाती है।

पूर्ण ज्ञान से नवचेतना

इसके साथ ही पूर्ण ज्ञान हमें यह चेतना प्रदान करता है कि यह अनंत सत्ता एक चिन्मय शक्ति है जो लोकों का सृजन तथा परिचालन करती है तथा इनके कार्यों में अपने–आपको व्यक्त करती है; यह अपनी विराट् चिच्छक्ति से युक्त स्वयंभू ब्रह्म को हमारे सम्मुख प्रभु किंवा ईश्वर के रूपमें प्रकाशित करता है। यह हमें अपने संकल्पको उनके संकल्पको उनके संकल्पके साथ एक करने, सब भूतोंकी शक्तियोंमें कार्य करते हुए उनके संकल्पका साक्षात्कार करने तथा दूसरों की इन शक्तियोंकी चरितार्थताको अपनी विराट् आत्म–चरितार्थताका अंग अनुभव करने की सामर्थ्य प्रदान करता है। इस प्रकार इससे कलह, द्वैतभाव और विरोध की वास्तविकता दूर हो जाती है और केवल इनकी प्रतीतिभर शेष रह जाती है। अतएव, इस ज्ञानसे हम दिव्य कर्म करने में समर्थ बन जाते है, एक ऐसा कर्म जो हमरी प्रकृतिके लिये वैयक्तिक होता है, पर हमारी सत्ताके लिये निर्व्यक्तिक, क्योंकि यह उस तत्से उद्भूत होता है। जो हमारे अंहसे परे है और उसकी वैश्व अनुभूतिके द्वारा ही क्रिया करता हैं। हम अपने कर्मोमें समताके साथ प्रवृत्त होते हैं, अर्थात् कर्मों और उनके परिणामोंसे बद्ध हुए बिना, परात्पर और विराट् प्रभुके साथ एकस्वर होकर, अपने कर्मों के पृथक दायित्वसे मुक्त होकर और अतएव उनकी प्रतिक्रयाओं से प्रभावित हुए बिना उनमें अग्रसर होते हैं।

इस प्रकार पूर्ण ज्ञानके द्वारा हम सभी वस्तुओंको एकमेव ब्रह्ममें एकीभूत कर देते हैं। हम विश्व–संगीतके सभी स्वरोंको स्वीकार करते है, चाहे वे सुरीले हों या बेसुरे, अपनी अर्थ–ध्वनिमें स्पष्ट हों या अस्पष्ट, तीव्र हों या मंद, श्रुत हों या अश्रुत; स्वीकार करते ही हम उन सबको सच्चिदानंद की अखंड समस्वरता में रुपांतरित और सुसमन्वित पाते है। यह ज्ञानशक्ति और आनंदको भी प्राप्त कराता है। "जो सब जगह एकत्व ही देखता है उसे भला मोह क्योंकर होगा, शोक कहाँ से होगा?"

–482–87 योग समन्वय

पूर्ण आनंद की अवस्था

श्री अरविंद ने कहा है कि सृष्टि जोवन के आनंद से बनी है। आनंद ही उसका आरंभ है और आनंद को ही उसका लक्ष्य होना चाहिये। इसका अर्थ होगा कि आनंद ही उच्चतम अवस्था है।

मुंझे यह कहने की जरूरत नही है कि यह वह आनंद नही है जिसे साधारण मानव अर्थ में आनंद समझा जाता है.....वस्तुतः वह आनंद उन अवस्थाओं के परे हैं जिन्हे योग की दृष्टि से सामान्यतः सबसे ऊंचा समझा जाता है उदाहरण के लिये पूर्ण शांति की अवस्था, आत्मा की पूर्ण समता पूर्ण अनासक्ति अनंत और शाश्वत भगवान के साथ एकात्मता, जो तुम्हे निश्चित रूप से सभी अनिश्चियों और संयोगो से ऊपर उठा देती है। इस वैश्व प्रेम की जो अनुकंपा का सार है और उस भागवत कृपा की पूर्णतम अभिव्यक्ति है जो समस्त भूल–भ्रांति और अज्ञान के परिणामों को मिटा देती है। इन दो अवस्थाओं को हमेशा चेतना के शिखर पर माना गया है, इन्हे सीमांत कहा जा सकता है भगवान के साथ ऐक्य में मानव चेतना जिस चीज को प्राप्त कर सकती है ये उसकी चरम सीमा है।

लेकिन इसके परे एक और चीज है वह है यथार्थ रूप से पूर्ण आनंद की स्थिति वह स्थिर आनंद नही है, वह क्रिक अभिव्यक्ति में आनंद है परम चेतना का पूर्ण उद्घाटन है।

मैंने जिन दो स्थितियों को बात कही उनमें से पहली प्रायः हमेशा ही कर्म से विरक्ति, लगभग निश्चल स्थिति की और बहुत आसानी से निर्वाण की और ले जाती है वास्तव में निर्वाण की खोज करने वालो को हमेशा यही उपाय बतलाया गया है लेकिन मैं जिस आनंद की स्थिति के बारे में कह रही हूँ। जो आनंद सारतः भागवत है, वह सभी संभव विरोधों और विराधी तत्वों से सर्वथा मुक्त है, वह कर्म से विरक्ति नही करता। इसके विपरीत उस सर्वांगीण कर्म की ओर ले जाता है जो अपने सारतत्व में संपूर्ण होता है और समस्त अज्ञान व सभी बंधनों से पूर्णतः मुक्त होता है।

परंतु आसक्तिशून्य आनंद एक भयंकर चीज हो सकती है जो आसानी से विकृत हो सकता है इसलिये अनासक्ति प्राप्त किये बिना आनंद की खोज करना बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण नही। पहले तुम्हें सभी संभव आपसी विरोधों के ऊपर होना चाहिये। दुःख–सुख, दर्द–आनंद, उत्साह–अवसाद के ऊपर होना चाहिये। इन सबसे ऊपर उठ जाने के बाद तुम निरापद रूप से आनन्द के लिये अभीप्सा कर सकते हो।

लेकिन जबतक यह अनासक्ति न प्राप्त हो जाये तुम आसानी से आनंद को सामान्य मानव सुख की एक उच्चतर अवस्था में उलझ सकते हो और यह सच्ची वस्तु कभी न होगी, उसका विकृत रूप भी नहीं क्योकि दोनों की प्रकृति इतनी भिन्न, लगभग एक–दूसरे के विपरीत है कि तुम एक की जगह दूसरे को नहीं ले सकते। अतः, अगर तुम मार्ग पर सुरक्षित रहना चाहते हो तो मुझे लगता है कि शांति, पूर्ण अचंचलता, पूर्ण समता, चेतना के विस्तार और विस्तृत समझ को पाना तथा सभी कामनाओं से मुक्ति, सभी पंसदों, आसक्तियों से छुटकारा पाना पहली शर्त है।

यह भीतरी और बाहरी समता का आश्वासन है।

और फिर इस समता पर, इस नींव पर, जो बहुत ठोस होनी चाहिये, तुम जो चाहो बना सकते हो, लेकिन पहले नींव को मजबूत और अटल होना चाहिये।

–श्री मां

–अग्निशिखा मई 1994

साधना में मार्ग दर्शन

मधुरता और सुन्दर भावना को बढ़ने दो, क्योंकि वे इस बात के प्रबलतम लक्षण है कि अन्तरात्मा, चैत्य पुरूष जाग्रत है तथा हमारे साथ उसका सम्पर्क बना हुआ है। अपने विचार या वाणी या कार्य की भूलों से विचलित मत होओ–उन्हें अपने से दूर रखो मानों वे ऊपरी चीजें हों जिन पर दिव्य शक्ति और ज्योति कार्य करेंगी तथा जिन्हें दूर करेंगी। बस, एक ही केन्द्रीय वस्तु पर ध्यान रखों–अपनी अन्तरात्मा तथा उन उच्च्तर सत्य वस्तुओ पर जिन्हे वह अपने साथ लाती हैं।

योग करने के लिए हमेशा मुंह गम्भीर बनाये रखना या चुप रहना आवश्यक नहीं है, पर यह आवश्यक है कि योग को गम्भीरतापूर्वक लिया जाये और योग में नीरवता तथा अन्तर्मुखी एकाग्रता का बहुत ऊंचा स्थान है। यदि मनुष्य का लक्ष्य अन्तर में पैठना और वहां भगवान् से मिलना हो तो वह अपने–आपको सर्वदा बाहर की ओर फेंकता नही रह सकता । परन्तु इसका मतलब यह नही है कि मनुष्य को सर्वदा गम्भीर और उदास, अथवा अधिकांश समय उदास बने रहना होगा.....।

हास्यम् सुखम् का सकिय पक्ष है, इसमें व्यक्ति सुख तथा प्रसन्नता की एक ऐसी आन्तरिक स्थिति में रहता है जिसे कोई भी मानसिक या भौतिक विरोधी अनुभव क्लेश नही पंहुचा सकता इसकी पूर्णता है–समता की सिद्धि पर भगवान् की मुहर और छाप का लगना। हास्यम् है–हमारी अन्तरतम सत्ता में श्रीकृष्ण के

उस बालवत् रूप की झांकी जिसमें वे जगत् के उद्यान में शाश्वत बालक तथा कुमार की भांति निरन्तर खेलते रहते हैं।

—श्री अरविन्द

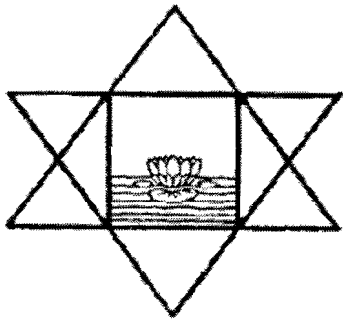

निम्नमुखी त्रिकोण सत्—चित—आनन्दको सूचित करता है।

ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण जीवन, ज्योति और प्रेमके रूपमें जड़त्वसे आने—वाले अभीप्सारूपी उत्तरकों परिलक्षित करता है।

दोनों त्रिकोणोंका संयोग—स्थल अर्थात् केन्द्रीयवर्ग पूर्ण अभिव्यक्तिका द्योतक है और उसके केन्द्रमें विद्यमान हैं परमात्माका अवतार—कमल।

वर्ग के अन्दर जो जल है वह बहुत्वका, सृष्टिका सूचक है।

***

Sachchidananda

....Sachchidananda exists at the very orgin of the worlds, but there is Sachchidananda behind all the other states of being. You could make a diagram (though that does not explain much, it is quite an erroneous idea, but it makes things more easily understandable); you arrange the states of being according to a scale. Then, you have the earth below and the Supreme above (it is not at all like that, I hasten to telll you! But anyway, it is easy to understand), you put the earth at the bootom and the Spreme at the top, and you divide that into lots of little a parts each of which represents state of being; that makes a kind of ladder. And then, you have as though behind it, behind your ladder, something which supports it, against which it leans. It is not a wall but it is something which supports your ladder. And that is precisely the first principle of the universal form. In Hindu terminology in ts called "Sachchidananda". It is there, everything leans upon that; without that nothing could exist. It is that which upholds and allows existence. Then, if you enter a certain state of consciousness and find youself, for ins-tance, in

the higher mind (for generally it is more easily there that this happens; you have started from the physical and climbed slowly, rung by rung, as far as the higher mind), but instead of continuing your ascent on the ladder you enter into a kind of interiorisation and try to go out of the form, you pass into kind of silence outside the form you pass in between the bars of your ladder and enter straight into Sachchidananda. I have known people who had it and thought they had reached the heights of the Supreme. For there is a similarity in the experience, a very great likeness, only it is limited to the mind, the mind alone participates in it. Well, for the will it is the same thing. Instead of being the support of the ladder it is a kind of force, a very powerfull current which passes through all these states, starting from above- it is the sureme Will – and coming down into the physical manifestation. Hence, if you can enter "the state of will"; that is, whatever state of being you may find youself in – physical, vital, mental, etc. – if you enter a certain state of consciousness and force, you come into contact with this power of will; it penetrates into you and you can use it for any purpose. If your reception is free form all egoism, if you are pure, completely surrendered and accept only what comes from the Divine, and if you don't mix anything with it, neither egoism nor desires nor limita- tions... well, it is a state a bit difficult to attain, but if you attain it you receive this force of will in its orginal state, pure (for it comes down pure, it is only in its reception that it gets deformed), then, instead of being your will it becomes an expression of the divine will. And this happens without your leaving the physical body – you can receive the force of the divine will without leaving the physical. Only, you see, you must not change it and deform it, spoil it in the receiving. When you feel within you a kind of indomitable energy to realise something, when you tell yourself, "I shall do this whatever the cost, I shall go to the end and shall use all my will" (for you always say my will), well, you connot be in that state unless you have come into contact with this current of will-force. Only, with your little personal reaction, naturally you derform it and use it all wrongly, and then you come into conflict with other elements. But if you are truly a yogi, you receive the current and nothing can stop the élan of your action, even physically.

-The Mother

प्रश्नः आनन्द क्या है

आखिर यह आनन्द है क्या? मन इसके अन्दर एक सुखद मानसिक अवस्था के सिवा और कुछ नहीं देख सकता—पर यदि मन केवल वही वस्तु हो तो वह, वह उल्लास तो नही हो सकता जिसे भक्तगण और योगीगण आनन्द के अन्दर पाते है। जब आनन्द तुम्हारे अन्दर आता है तो सच पूछो तो स्वयं भगवान् ही तुम्हारे अन्दर आते है, ठीक वैसे ही जैस कि जब शान्ति तुम्हारे अन्दर प्रवाहित होती है तो उस समय स्वयं भगवान् ही तुम्हें आक्रान्त करते है, अथवा जब तुम्हारे अन्दर ज्योति की बाढ़ आती है तो वह स्वयं भगवान् की ही बाढ़ होती है जो तुम्हारे चारों ओर फैली होती है। निस्सन्देह, भगवान् इन सबसे बहुत अधिक कोई वस्तु है, इनके अलावा बहुत—सी अन्य वस्तुएं है, और उन सबमें विद्यमान वे एक उपस्थिति, एक सत्ता, एक दिव्य पुरूष है क्योकि भगवान् ही कृष्ण है, शिव है, परमा जननी है। परन्तु आनन्द के अन्दर से तुम आनन्दमय कृष्ण को देख सकते हो, क्योंकि आनन्द कृष्ण का सूक्ष्म शरीर और स्वरूप है, शान्ति के अन्दर से तुम शान्तिमय शिव को देख सकते हो, ज्योति में, मुक्तिदाता ज्ञान, प्रेम, सिद्धिदायी और उन्नतिकारी शक्ति के अन्दर तुम भगवती माता की उपस्थिति के दर्शन कर सकते हो।

मैं यह कह सकता हूं कि आनन्दहीन भगवान् की भावना एक मूर्खता है, जिसे केवल मन का अज्ञान ही उत्पन्न कर सकता है। राधा का प्रेम किसी ऐसी चीज पर आधारित नहीं है, बल्कि उसका तात्पर्य बस यह है कि जो कुछ भगवान् की ओर जाने के पथ पर आता है, चाहे वह दुःख हो या सुख, मिलन हो या विरह, और चाहे जितने दिन वेदना क्यों न बनी रहे, राधा का प्रेम अटूट बना रहता है और अपनी श्रद्धा और निश्चयता को बनाये रखता है और एक सितारे की भाति निश्चित रूप से प्रेम के परम भाजन की ओर संकेत करता रहता है।

—श्री अरविन्द

***

जो सत्ता हमारा वास्तविक स्वरूप है, जो सनातन रूप में सत्स्वरूप, चित्स्वरूपः आनन्दस्वरूप अनादि, अनन्त, स्वयंप्रकाशित, चेतन स्वरूप भगवान है वे भगवान ही हमारे जीवन के परम सत्य है।

— मातृवाणी

आनन्द पाने का परम रहस्य

पहले तू परमेश्वर का यन्त्र होना और उसे स्वामी स्वीकार करना सीख। यन्त्र वह बाह्य वस्तु है जिसे तू अपना–आप समझता है। यह है एक मनोमय ढांचा,एक प्राणमय सच्चालक शक्ति, एक स्थूल आकार का यन्त्र, एक वस्तु जो नानविध कमानियों, चकदन्तों, शिकंजों तथा अन्य कल–पुर्जो से भरपूर है।क्या इस बाह्य स्वरूप को तू कार्यकर्ता या स्वामी समझता है? यह कदापि कार्यकर्ता या स्वामी नहीं हो सकता। तू तो पहले इस अपने–आपको यन्त्र स्वीकार कर–नम्रता के साथ, फिर भी अभिमान के साथ, भक्तिरत भाव से, शरणागत भाव से और आनन्दपूर्ण होकर अपने को भगवान् का एक यन्त्र स्वीकार कर।

इससे बढ़कर तू सबसे पहले, बिलकुल पूरी तरह से आज्ञापालन करना सीख। उसे कहां वार करना है यह तलवार तो कभी निश्चय नहीं करती, तीर यह नहीं कहता कि उसे किस लक्ष्य पर छोड़ा जाये, यन्त्र की कमानियां यह आग्रह नहीं करती कि उनके कार्य द्वारा अमुक वस्तु को निर्माण किया जाये। ये बातें तो प्रकृति–देवी (जो कार्यकर्ता है) के अभिप्राय ओर उसकी कार्य–प्राणाली के द्वारा निश्चित होती हैं। सचेतन यन्त्र–रूप मनुष्य अपनी प्रकृति के शुद्ध और सच्चे स्वधर्म को जितना अधिक जान लेगा और उसका ही पालन करना सीख लेगा उतनी ही जल्दी उससे निर्मित होने वाला कार्य पूर्ण और निर्दोष होकर तैयार होगा। प्राणमय प्रेरक बल यदि अपने ही चुनाव से काम करेगा, भौतिक और मानसिक उपकरण यदि विद्रोह करेंगे तो इससे केवल काम बिगड़ेगा ही।

तू अपने–आपको परमेश्वर के निःश्वास में बहने दे और आंधी में उड़ने वाले सूखे पत्ते की तरह हो जा। अपने–आपको उसके हाथों में रख दे और योद्धा के हाथ की खनकती हुई तलवार और धनुष से निकले, निशाने की तरफ उड़ते हुए तीर की तरह हो जा। तेरा मन यन्त्र की कमानी की तरह और तेरी प्राणशक्ति इंजन के 'पिस्टन' कि तरह हरकत करें। जिसे किसी प्रकार का भी कार्य कर, पर एक यन्त्र के तौर पर कर और वह कार्य कर जो तेरी प्रकृति के धर्म के अनुसार स्वाभाविक हो और तेरे लिए नियत हो।

समरांगण की लीला में तलवार आनन्द पाती है, तीर अपनी उड़ान और सनसनाहट में मजा लेता है, पृथ्वी इस आकाश में अपना अंधाधुंध चक्कर लगाते जाने में आनन्द–विभोर है, सूर्यनारायण अपने जगमगाते वैभव में तथा अपनी सनातन गति में सदा सम्राट्–सदृश आनन्द का भोग कर रहा है। तो फिर, ओ परमेश्वर के आत्म–सचेतन यन्त्र! तू भी अपने नियत कर्म करते जाने में मजा लूट।

तलवार अपने बनाये जाने की मांग नहीं करती, बन जाने पर वह किसी भी तरह उपयुक्त किये जाने में उपयोगकर्ता के सामने रूकावट नहीं पैदा करती, और जब वह टूट जाती है तो काई विलाप नहीं करती। बनाये जाने में एक प्रकार का आनन्द है और उपयुक्त किये जाने में भी एक अन्य प्रकार का आनन्द है तथा म्यान में बन्द कर रख दिये जाने में और अन्त में तोड़कर फेंक दिये जाने में भी एक आनन्द है। उस सर्वत्र सम आनन्द को तू ढूंढ़ निकाल।

क्योंकि तूने यन्त्र को कार्यकर्ता और स्वामी समझने की भूल की है और क्योकि तू अपने इच्छा के अज्ञान के कारण अपनी निजी अवस्था को, अपने निजी लाभ को और अपनी निजी उपयोगिता को पसन्द करता है, इसीलिए तुझे दुःख और यातनाएं झेलनी होती हैं, तुझे बार–बार लाल दहकती हुई भट्टी नरक में तपना पड़ता हैं और यह तब तक चलता रहेगा जब तक कि तू अपना मनुष्योचित पाठ पूरा न कर लेगा।

और ये सब अपूर्णताएं हैं, क्योंकि ये तेरी अधूरी अपरिपक्व प्रकृति में विद्यमान हैं। जब तू यन्त्र हो जायेगा तो देखेगा कि प्रकृतिदेवी कार्यकर्ता है और क्या तू जानता है कि वह क्या कार्य कर रही है? वह अपने इस अपरिपक्व कच्चे मन, प्राण और स्थूल द्रव्य (अन्न) में से एक पूर्णतया सचेतन सत्ता को विकसित कर रही है।

***

भगवान् के आगे एक नवजात शिशु के समान होने से बढ़कर और काई आनन्द नहीं है।

***

आओ, हम अपने मिथ्यात्व को भगवान् के अर्पण कर दें ताकि वे उसे आनन्द–भरे सत्य में बदल दें।

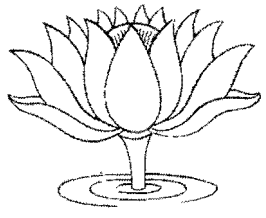

सत्य मे जीना

मैनुष्य को अंदर से बाहर जीना चाहिये। किन्हीं संस्थाओ या मशीनरी पर यह सोचकर निर्भर नहीं रहना चाहिये कि ये हमें पूर्ण बनायेगी, बल्कि अपनी बढ़ती हुई आंतरिक पूर्णता द्वारा उसे अपने जीवन के ढांचे और आकार को अधिक पूर्ण रूप मे ढालना होगा; क्योंकि इसी आंतरिक जीवन के द्वारा हम ऊंची चीजों के उस सत्य को अच्छी तरह देख पायेंगे जिसके बारे में अभी हम केवल शब्दों का उपयोग करते है, हम उस सत्य को बाहरी बौद्धिक रचनाओं में भी ढाल सकते हैं ओर साथ–साथ अपने समस्त बाहरी जीवन में सच्चे रूप से लागू भी कर सकतें हैं। अगर हमें मानवता में भगवान् के राज्य को पाना है तो हमें पहले भगदान् को जानना हेगा, अपने अंदर अपनी सत्ता के अधिक दिव्य सत्य को देखना और जीना होगा; नही तो भला किस तरह तर्क की उन रचनाओं और दक्षता की वैज्ञानिक प्रणालियों–जिन्होनें हमें भूतकाल में असफल बनाया – के नये जोड़–तोड़ उस सत्य को स्थापित करने में सहायक सिद्ध हो सकते है?..... चूंकि अभी मनुष्य का मन नयी चेतना के लिये तैयार नहीं है इसलिये पुराना भाव, पुरानी प्रकिया मजबूत लग सकती है, कुछ समय के लिये फल–फूल सकती है; लेकिन भविष्य उन्ही मनुष्यों और राष्ट्रों के हाथों में है जो चौंध और झुटपुटे के परे सवेरे के देवताओं के दर्शन करते हैं ओर उस परम शक्ति के उचित यंत्र बनने के लिये अपने–आपको तैयार करते हैं जो शक्ति एक अधिक महान् आदर्श के प्रकाश की ओर जाने के लियें निंदेशित कर रही है।

–श्री अरविन्द

***

हमारी साधारण सत्ता हमारे और भगवान के बीच बौद्धिक भाव प्रधान मन का जो आवरण रच रखा है उसे यदि हम छिन्न–भिन्न कर सके तो हम सत्यमानस के द्वारा अपने समस्त मानसिक प्राणिक एवं भौतिक अनुभव को अपने हाथ मे लेकर उसे सच्चिदानंद के अनंत सत्य के रूपों में परिणित करने के लिए आध्यात्मिक अनुभव के प्रति समर्पित कर सकते हैं।

–श्री मॉ

–मातृवाणी

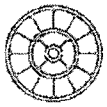

सत्य–चेतना मे सामन्जस्य

कोई चीज भागवत चेतना के साथ एक हाने से बढ़कर सुन्दर नहीं है। तुम जिसे खोज रहे हो उसे अवश्य पाओगे–यदि तुम पूरी सचाई के साथ खोजो – क्योंकि तुम जिसे खोज रहे हो वह तुम्हारे अंदर ही है।

चेतना एक ही प्रकार की सद्वस्तु नहीं है, वह बहुविध है, वह किसी समतल भूमि जैसी नहीं है, उसके अनेक आयाम हैं। उच्चतम ऊचाईपर परम पुरूष हैं और निम्नतम गहराई में जड़–प्रकृति है और इस निम्नतम गहराई और उच्चतम ऊंचाई के बीच में चेतनाओं की अनन्त भूमिकाओं का क्रमविन्यास है।

जड़–प्रकृतिके क्षेत्रमें और साधारण चेतनाके स्तरपर तुम्हारे हाथ–पैर बंधे रहते है। प्रकृतिकी यांत्रिकताके गुलाम होने के कारण तुम कर्मकी सांकलसे जकड़े हुए हो, और इस सांकलके बन्धनमें रहते हुए जो कुछ होता है वह अचूक रूपसे पूर्वकर्मोके परिणामस्वरूप होता है। इस अवस्थामें स्वतंत्र गति का जो मान होता है वह भ्रम है, यथार्थ में जो दूसरे करते हैं तुम भी उसकी दोहराते रहते हो, प्रकृतिकी जो विश्वगतियां है तुम उनकी प्रति–ध्वनिमात्र हो, तुम उसके विश्व–यंत्रके कुचल देनेवाले माया–चक्र पर चढ़कर असहाय रूप से चक्कर खाते रहते हो।

परन्तु यह होना आवश्यक नहीं है। तुम चाहो तो अपनी स्थितिको बदल जानेके बदले ऊपर उठ सकते हो और वहीं से संसार–चक्र और उसकी अवस्थाओंको देख सकते हो तथा तुम अपनी चेतनाके परिवर्तनद्वारा इस चक्र को घुमानेवाले किसी हत्थे को कब्जे में कर सकते हो जिससे इन अनिवार्य दिखने वाली घटनाओंका परिचालन कर सको ओर निश्चित अवस्थाओं–को बदल सको। एक बार तुम अपने–आपको मुक्त पाओगे, इतना ही नहीं कि विवशताओं से मुक्ति पाकर तुम प्रकृतिके निष्क्रिय उपकरण न रहोगे, तुम उसके सक्रिय प्रतिनिधि बन जाआगें केवल यही नहीं कि तुम अपने कर्मफलोंके बन्धनसे मुक्त हो जाओगे, बल्कि तुम अपने कर्मफलको बदल भी सकोगे। एक बार तुम शक्तियोंकी लीलाको देख पाओ, चेतनाकी उस भूमिकामें ऊपर उठ जाओ जहासे शक्तियोंका प्रादुर्भाव होता है और इन गतिशील उद्‌गमोंके साथ अपने–आपको एक कर लो, तो तुम उस श्रेणीके नहीं रहोगे जिसे परिचालित किया जाता है, बल्कि उस श्रेणी के हो जाओगे जो परिचालन करती है।

यही है योगका वास्तविक ध्येय – कर्म–चक्र से बाहर निकलकर भागवत गति में प्रवेश करना। योगके द्वारा तुम प्रकृतिकी उस यांत्रिक गतिसे छुटकारा पा सकते

हो जिसमें तुम एक मूढ़ गुलाम, एक असहाय और बेबस उपकरणभर हो। तुम एक दुसरी भूमिका में ऊपर उठ जाते हो जहां किसी उच्चतर भवितव्यताको कार्यमें परिणित करने के लिये तुम एक सचेतन सहयोगी और सक्रिय प्रतिनिधि बन जाते हो। चेतना की यह गति द्विविध होती है। पहले आरोहण होता है, तुम अपने आपको जड़–प्रकृति की चेतना की सतह से ऊपर उठाकर श्रेष्ठतर क्षेत्रों में ले जाते हो। परन्तु निचले क्षेत्रों से ऊपर के क्षेत्रों में आरोहण, ऊपर की चेतना को निचले क्षेत्रों में उतरने के लिये बुलाना है। जब तुम पृथ्वी से ऊपर उठते हो तो ऊपर की किसी चीज को भी इस पृथ्वी पर उतार लाते हो–किसी ऐसी ज्योति या शक्ति को जो इस पृथ्वी की पुरानी प्रकृतिका रूपान्तर कर देती है या उसे रूपांन्तरित करने के लिये प्रवृत्त करती है। और तब जो चीजें अभीतक एक–दूसरेसे अलग, बेमेल और विषम थीं, तुम्हारे अन्दर जो कुछ उच्च है वह और जो कुछ निम्न है वह तुम्हारी सत्ता और चेतना के आन्तर और बाह्य स्तर,वे एक दुसरेसे मिलते और धीरे–धीरे आपस में जुड़ जाते है तथा कमशः एक सत्य और एक सामन्जस्य में परिणत हो जाते हैं।

–मातृवाणी

***

हमारे विचारो की सुविधा के लिए सच्चिदानंद (सत्–चित्–आनंद का त्रैत कहा गया है) ये तीन दिव्य तत्व सर्वत्र व्याप्त है। इनमें से कोई भी वास्तव में पृथक नही है। पर हमारा मन और मानसिक अनुभव इनमें केवल भेद ही नही, पार्थक्य भी पैदा कर सकते है।

–श्री अरविन्द

***

अतिचेतना की सुषुप्ति में वह एकीभूत, प्रज्ञानन्धन,
आनन्दमय और आनन्द का भोक्ता.....
वही सर्वशक्तिमान है, वही सर्वज्ञ है, वही अन्तर्यामी है, वही
सबका उत्स है।

–दिव्य–जीवन

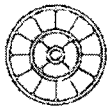

सच्चिदानंद चेतना में तीन मिनट

यदि तुम् अपनी रातों की नींद के बारे में सचेतन हो तो सोने के पहले मन को शिथिल और पूर्ण रुप से शांत कर लो तो तुम्हारी नींद बहुत शांतिपूर्ण और स्फूर्तिदायक होगी। स्वभावतः तुम्हारा प्राण क्षुब्ध नहीं होना चाहिये। अगर तुम सचेतन हो तो अपने प्राणको शांत करने के बाद, जब तुम अपनी स्थूल चेतनासे निकलकर सूक्ष्मतर चेतनामें पैठने लगते हो तो तुम अपने प्राणको सुला देते हो, तुम उससे कहते होः अब विश्राम करो, एकदम चुप रहो; और फिर अपने मानसिक क्रिया–कलापमें प्रवेश करों और मनसे कहोंः विश्राम करों एकदम चुपचाप रहों फिर उसे भी सुला दो। फिर मनसे निकलकर एक उच्चतर क्षेत्रमें आते हों। वहां, यदि तुम्हें रस आये, उदाहरणके लिये, यदि तुम पहली बार वहां गये हो तो देख सकते हो कि वहा क्या हो रहा है, तुम अनुभव कर सकते हो, चीजें सीख सकते हो– कभी–कभी बहुत मजेदार चीजें सीखी जा सकती है। और फिर कभी–कभी तुम अमुक सामान्य अवस्थाके प्रति सचेतन हो सकते हो और बाद–में, अगर तुमको यह सब काफी लगे तो तुम कहते हो चुप रहो, सो जाओ, हिलो मत। फिर उसे भी सुलाकर एक और उच्चतर चेतनामें उठते हो; इस तरह चलते चले जाते हो जबतक कि एक ऐसी स्थिति–तक नहीं पंहुच जाते जहां तुम रूपोंकी सीमापर हो; मैं भौतिक रूपोंकी बात नहीं कर रही–सभी रूपोंकी सीमापर, स्वभावतः, विचारके रूपसे बहुत ऊपर। सभी स्पंदनों और रूपोंकी सीमापर, पूर्ण शांति में, जिसे सच्चिदानंद कहा जाता है। और जब तुम वहां होते हो तो सब कुछ रूक जाता है, सभी स्पंदन शांत हो जाते है, और यदि तुम वहां मात्र तीन मिनट भी रह लो, तो जब अपने शरीरमें लौटोगे तो अपने–आपको बिलकुल विश्रांत, ताजा और शक्तिशाली पाओगे मानों घंटोंकी नींद ले चुके हो! यह एक ऐसी चीज है जो सीखी जा सकती हैं। मैं यह नहीं कहती कि यह एक रातमें ही सिद्ध हो जायगी, थोडी मेहनत और थोड़ा अध्यवसाय जरूरी है। लेकिन फिर भी..... तुमको यह सीखना ही चाहिये; और जब तुम बहुत चिंतित और बहुत क्लांत हो; बहुत..... उदाहरणके लिये, और तुम बहुत थके हुए हो, उस समय अगर तुम इस प्रक्रिया का सचेतन रूपसे अनुसरण करो, तो कुछ ही मिनटों में सब कुछ गायब हो जायगा।

–मातृवाणी

***

प्रश्नः हम आलोचना के प्रति उदासीन कैसे हो सकते है?

अपनी चेतना में सीढ़ी के जरा ऊपर चढ़कर, चीजों को जरा ज्यादा विशाल, जरा ज्यादा व्यापक रूप में देखकर ही हम आलोचना के प्रति उदासीन हो सकते हैं। उदाहरण के लिये, किसी विशेष समय कोई चीज तुम्हें पकड़ लती है, तुम्हें यूं जकड़ लेती है, तुम्हें सख्ती से पकड़ती है, खूब दबाकर, और तुम पूरी तरह चाहते हो कि वह हो, और तुम भयानक बाधा के विरूद्ध जो उसे होने से रोकती है; अगर ठीक उस समय तुम बस यह अनुभव करना शुरू करो, यह अनुभव करो कि इस वर्तमान क्षण से पहले लाखों–करोड़ों वर्ष बीत चुके हैं, और लाखों–करोड़ों वर्ष आयेंगे, उन सबके साथ मिलकर देखो कि इस जरा–सी घटना का क्या महत्व है– आध्यात्मिक चेतना या किसी और चीज में जाने की जरूरत नहीं है, सिर्फ देश और काल के साथ नाता जोड़ो, वह सब जो इस समय हो रहा है – तो अगर तुम मूर्ख नहीं हो, तो अपने–आपसे कहोगेः "ओहो, मैं तो ऐसी चीज को महत्व दे रहा हूं जिसका कोई महत्व नहीं है।" तुम आवश्यक रूप से यह देखोगे। वह चीज तुरंत अपना मूल्य खो बैठती है।

अगर तुम केवल सृष्टि की विशालता पर नजर डाल सको, समझे–मैं अभी आध्यात्मिक ऊंचाइयों पर उठने की बात नहीं कर रही – सिर्फ देश और काल में सृष्टि की विशालता को देख सको, और इस छोटी–सी घटना को देख सको जिसे तुम इतना महत्व देकर उसपर एकाग्रचित हो रहे हो–मानों वह कोई महत्वपूर्ण चीज हो..... तो एकदम यह यूं करती है संकेत ओर विलीन हो जाती है, अगर तुम सचाई से करो। अगर स्वभावतः, तुम्हारा एक भाग तुमसे कहेः "ओह, लेकिन मेरे लिये इसका महत्व है," तब तो तुम्हें बस, उस भाग को पीछे छोड़ देना चाहिये और अपनी चेतना को, जैसी वह है वैसी ही रखनी चाहिये। लेकिन अगर तुम सच्चाई के साथ चीजों का सच्चा मूल्य देखना चाहो तो यह बात आसान है।

व्यष्टिगत आत्मा और समष्टिगत आत्मा एक ही हैं; हर एक जगत् में, हर एक सत्ता में, हर एक वस्तु में, हर अणु में, 'भागवत' उपस्थिति' मौजुद है और मनुष्य का लक्ष्य है उसे अभिव्यक्त करना।

***

सुखी होने के लिये मत जिओ। भगवान् की सेवा करने के लिये जिओ, इससे तुम्हें जो आनंद मिलेगा वह आशातीत होगा।

–श्री मां

दूसरों का मूल्यांकन करना

पहली आवश्यकता यह है कि किसीके बारे में निंदात्मक ढंग से सोचने से परहेज करो। जब हम किसी आदमी से मिलें तो हमारे आलोचनात्मक विचार मानों उसकी नाक पर घूंसा लगाते हैं जो स्वभावतः उसके अंदर विद्रोह पैदा करता है। हमारी मानसिक रचना उस व्यक्ति के लिये विकार पैदा करनेवाले दर्पण का काम देती है और तब आदमी विचित्र न हो तो भी हो जायेगा। लोग अपने मन से यह विचार क्यों नहीं निकाल सकते कि यह या वह व्यक्ति अस्वाभविक है। वे किस कसौटी से परखते है? वास्तव में स्वाभाविक है कौन? मैं तुमसे कह सकती हूं कि एक भी व्यक्ति सामान्य या स्वाभविक नहीं है क्योकि स्वाभाविक होने का अर्थ है भगवान् होना।

मनुष्य का एक पैर मानवता मे है दूसरा पाशविकता में और साथ–ही–साथ वह देवतुल्य का प्रत्याशी हैं। उसकी अवस्था सुखद नहीं है। सच्चे पशु ज्यादा अच्छी हालत में हैं। वे आपस में ज्यादा सामंजस्यपूर्ण हैं। वे मनुष्यों की तरह लड़ते–झगड़ते नहीं। वे अकड़फूं नहीं करते, वे लोगों को नीचा समझकर उन्हें दूर नहीं रखते।

तुम्हारें अंदर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण होना चाहिये और तुम्हें अपने साथियों के साथ सहयोग देना सीखना चाहिये। उनके अंदर जो कुछ घटिया दीखता हो उसका मजाक उड़ाने की जगह उनकी सहायता करना और उन्हें ऊंचा उठाना चाहियें।

अगर किसीके अंदर कुछ त्रुटि है और वह अति संवेदनशील ओर हठी है तो तुम उसे बाधित करने या निकाल बाहर करने के संक्षिप्त तरीकों द्वारा सुधारने की आशा नहीं कर सकते। उसी तरीके से काम करके उसके अहंकार को अपने अंहकार द्वारा बाधित मत करों। उसकी प्रकृति के अनुसार, नरमी और समझदारी के साथ उसका पथ–प्रदर्शन करो। यह देखो कि क्या तुम उसे ऐसी जगह रख सकते हो जहां वह औरों के साथ संघर्ष में आये बिना काम कर सके।

अगर, जिन लोगों के हाथ में शक्ति है वे अपने महत्ता से फूले रहें तो वे सच्चे कार्य में बाधा देते हैं। उनके अंदर जो भी क्षमता हो उसकी उपलब्धि ही वास्तविक चीज नहीं है।

लेकिन ऐसी बात नहीं है कि उनमें हमेंशा सद्भावना की कमी होती है। क्या उचित है इसके बारे में उनके अंदर गलत विचार होते हैं। अगर वे भागवत लक्ष्य के बारे में ज्यादा सचेतन हो जायें तो वे निश्चित ही उसे पूरा करने में सफल हो सकते हैं।

विशुद्ध आनन्द को जानना

प्रश्नः मनुष्य विशुद्ध आनन्द को कैसे जान सकता है?

सबसे पहले, शुरू करने के लिए व्यक्ति को ध्यानपूर्वक निरीक्षण द्वारा यह जान लेना होगा कि कामना एवं कामनाओं की तृप्ति एक ऐसा हल्का और अनिश्चित सुख प्रदान करते हैं जों मिश्रित, क्षणजीवी और एकदम असन्तोंषदायक होता है। सामान्यतया यही पहला कदम होता है।

उसके बाद, यदि व्यक्ति समझदार हो तो उसे कामना को पहचानना सीखना होगा ओर ऐसे किसी भी काम से बचना होगा जो उसकी कामनाओं को सन्तुष्ट करे। मनुष्य को उन्हें सन्तुष्ट करने का यत्न किये बिना दूर धकेल देना चाहियें और फिर इसका पहला नतीजा, ठीक उन्ही प्रारम्भिक परिणामों में से एक होगा जिसे बुद्ध ने अपने उपदेशों में यों स्पष्ट किया हैः कामना को तृप्त करने की अपेक्षा उसे जीतने और उसका परित्याग करने में अपार रूप से अधिक महान् आनन्द है। प्रत्येक सत्यनिष्ठ और दृढ़–निश्चयी साधक को कुछ समय बाद, देर या सवेर, कभी–कभी बहुत ही जल्दी यह साक्षात्कार होगा कि यह एक परम सत्य है, और कामना की तृप्ति से प्राप्त हो सकने वाले क्षणजीवी और मिश्रित सुख से इतना अधिक ऊंचा होता है कि उससे इसकी तुलना नहीं हो सकती। यह हुआ दूसरा कदम।

साधना को निरन्तर जारी रखने से, स्वभावतः ही, बहुत थोडे समय में कामनाएं बहुत पीछे रह जायेगी और फिर वे तुम्हें तंग नहीं करेंगी। इस प्रकार तुम अपनी सत्ता के अन्दर थोडी अधिक गहराई में प्रवेश करने के लिए स्वतन्त्र हो जाओगे और अपने को..... आनन्ददात। के, दिव्यतत्व के, भागवत कृपा के प्रति अभीप्सा करते हुए उद्घाटित कर लोगे। और यदि ऐसा सच्चे आत्म–समर्पण के साथ किया जाये–ऐसे भाव के साथ जो अपने को अर्पित करता है, प्रदान करता है, और अपने उत्सर्ग के प्रतिदान के रूप में किसी चीज की आशा नहीं करता–तो व्यक्ति एक ऐसी मधुर, सुखद, अन्तरंग, ज्वलन्त, स्नेहभरी ऊष्मा का अनुभव करेगा। जो हृदय को परिपूर्ण कर देती है और दिव्य आनन्द की अग्रदूत होती है।

इसके बाद मार्ग सरल होता है.....

..... एक ऐसा समय भी आता है जब व्यक्ति तैयार होने लगता है, जब प्रत्येक चीज में, हरेक पदार्थ में, एक–एक किया में, एक–एक स्पन्दन में, अपने चारों ओर की सभी चीजों में–केवल लोगों ओर सचेतन सत्ताओं में ही नहीं बल्कि वस्तुओं एवं पदार्थों में, केवल पेड़–पौधों और जीवित वस्तुओं में ही नहीं बल्कि उपयोग में आने वाली किसी भी चीज में, अपने चारों में ही नहीं बल्कि

उपयोग में आने वाली किसी भी चीज में, अपने चारों ओर घिरी वस्तुओं में–इस आनन्द को, सत्ता के इस आनन्द को, केवल वही होने के आनन्द को जो व्यक्ति है, केवल होने के आनन्द को अनुभव करता है। पर मैं कहती हूं कि स्वभावतः ही,..... जबतक व्यक्ति में कामना, पसन्दगी, आसक्ति या अनुरक्ति एवं विरक्ति और यह सब होता है तबतक वह आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता–बिलकुल नहीं कर सकता।

और जबतक मनुष्य को किसी चीज में सुख–सुख हां, किसी चीज में प्राणिक और भौतिक सुख–मिलता है, तो वह इस आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता। क्योंकि यह आनन्द सर्वत्र विद्यमान है। तुम्हें आनन्द एक बहुत सूक्ष्म वस्तु हैं। वस्तुओं में विचरण करते समय तुं ऐसा लगता है मानों वे अपने आनन्द को तुम्हारे सामने गा कर व्यक्त कर रहें हों। ऐसा भी समय आता है जब तुम अपने चारों ओर के जीवन में इसके आदी हो जाते हो।.....

और जब यह अवस्था आती है तो यह शरीर के सब कोषाणुओं में व्याप्त हो जाती हैं। यह काई ऐसी चीज नही होती जिसके सम्बन्ध में सोचा–विचारा जाये–मनुष्य उस अवस्था में तर्क नहीं करता, विश्लेषण नहीं करता, ऐसा कुछ भी नहीं होता यह ऐसी स्थिति है जिसमें मनुष्य केवल निवास करता है। और जब शरीर इसमें हिस्सा लेता है तो यह इतना ताजा, इतना सहज, इतना.... कि उसके बाद मनुष्य अपनी ओर नहीं लौटता उसमें आत्म–निरीक्षण का, आत्म विश्लेषण का या वस्तुओं के विश्लेषण का कोई भाव नहीं रहता। यह सब मानों एक उल्लास भरे स्पन्दनों का गीत बन जाता है परन्तु बहुत, बहुत ही शान्त, तीव्रता से रहित, आवेग से रहित होता है, उसमें यह सब कुछ नहीं होता। यह बड़ा सूक्ष्म और साथ ही बहुत सघन होता है, ओर इसके आने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सारा विश्व ही एक अद्‌भुत लगता है।..... तो सब कुछ बदल जाता है। जैसा कि श्री अरविन्द कहते हैः सब कुछ बदल जाता है। अद्‌भुत सामज्जस्य होता है! सब कुछ दिव्य आनन्द, सच्चा 'आनन्द', विशुद्ध 'आनन्द' बन जाता है।

यह बात थोडी मेहनत की मांग करती है।

और इस साधना का, जिसके सम्बन्ध में मैंने कहा था और जो हमें करनी है, यदि आनन्द–प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर इसका अभ्यास किया जाये तो फल देर से प्राप्त होता है, क्योंकि बीच में एक अंहतापूर्ण तत्व घुस आता है, वह एक उद्‌देश्य को लेकर किया जाता है और समर्पण नहीं रह जाता, यह एक मांग बन जाता है और उसके बाद..... इसका फल मिलता है और मिलेगा ही, चाहे इसमें अधिक देर क्यों न लगे–व्यक्ति जब किसी चीज की मांग नहीं करता, किसी चीज की अपेक्षा नहीं करता, आशा नहीं करता और जब उसके साथ एक हो जाता है,

अर्थात् आत्म–समर्पण करता है, उसमें आत्म–समर्पण का, अभीप्सा का भाव होता है और सौदेबाजी की भावना के बिना केवल सहज आवश्यकता–दिव्य बनने की इच्छा–होती है, बस, तब फल प्राप्त होता है।

–श्री मां

–मातृवाणी

चित्त अर्थात भागवत् चेतना हमारी मानसिक चेतना तो केवल एक रूप, एक निम्नतर एवं सीमित प्रकार की गति है

साधारण मानवचेतना का दिव्य अतिमानसिक चेतना में रूपांतर ही सिद्धि है।

मन के उपर एक सत्य भूमिका है। साक्षात चित्त ही समस्त विविध चेतना का मूल उद्‌गम है यह चित्त ही अपने आपको इस प्रकार परिवर्तित करती है।

तुम्हें प्रत्येक पग पर यह अनुभव होना चाहिये कि तुम जो कुछ सोचते या करते हो उसमें भागवत चेतना ही तुम्हारे द्वारा कार्य करती है।

–श्री मां

मातृवाणी

***

That which has thrown itself out into forms is a triune Existence-Consciousness Bliss, Sachchidananda, Whose Consciousness is in its nature a creative or rather a self-expressive Force capable of infinite variation in phenomenon and form of its self-conscious being and endlessly enjoying the delight of that variation. It follows that all thing that exist are what they are as terms of that existence, terms of that conscious force, terms of that delight of being.

-SRI AUROBINDO

गीता का संदेश

आत्मा हमारा सत्यस्वरूप ब्रह्म है; वही पवित्रतम परम सता अनादि, अनन्त, सनातन, सतस्वरूप , चित्त–स्वरूप, आनन्दमय, स्वयं–प्रकाशित, चेतन स्वरूप भगवान है।

सर्वांगीण पूर्णता तो परम और समग्र भगवान् में निवास करने से ही प्राप्त हो सकती है। तब मनुष्य की अंतरात्मा भगवान् के साथ, जिनका वह एक अंश है, एक हो जाती है; तब वह आत्मा एवं अध्यात्मसत्ता में सब भूतों के साथ एक हो जाती है, ईश्वर और प्रकृति दोनो में उनके साथ एक हो जाती है; तब वह केवल मुक्त ही नहीं बल्कि पूर्ण भी होती है, परम आनंद में निमग्न तथा अपनी चरम पूर्णता के लिए प्रस्तुत होती है। तब भी मनुष्य आत्मा को इस रूप में देखता है कि यह एक नित्य और निर्विकार पुरूष है जो सभी वस्तुओं को शांत भाव से धारण करता है; साथ ही वह प्रकृति को भी इस रूप में देखता है कि यह अब और केवल एक ऐसी यांत्रिक शक्ति नहीं है जो त्रिगुण की मशीनरी ही के अनुसार सब कार्य करती हो, बल्कि यह आत्मा की ही एक शक्ति है, अभिव्यक्तिगत भगवान् की एक शक्ति है। वह देखता है कि अपरा प्रकृति आत्मा के कर्म का अंतरतम सत्य नही है; वह भगवान् की परा अध्यात्म–प्रकृति को जान जाता है, वह देखता है कि जो कुछ आज मन, प्राण और शरीर में अपूर्ण रीति से रूपायित है उस सबका उद्‌गम उस भगवती प्रकृति में निहित है और साथ ही उस सबका वह महत्तर सत्य भी, जो अभी हमें उपलब्ध करना है, वहीं है। निम्न मानसिक प्रकृति से इस परम अध्यात्म–प्रकृति में उठकर वह समस्त अहंकार से मुक्त हो जाता है। वह जान जाता है कि मैं एक आध्यात्मिक सत्ता हूँ, अपने मूल स्वरूप में सर्वभूतों के साथ एक हूँ और अपनी सक्रिय प्रकृति में एकमेव भगवान् की एक शक्ति तथा विश्वातीत अनंत अशंभूत एक सनातन जीव हूँ। वह सबको ईश्वर में और ईश्वर को सबमें देखता है; वह सभी वस्तुओं को वासुदेव के रूप में देखता है। वह हर्ष–शोक, प्रिय–अप्रिय, आशा–निराशा तथा पाप–पुण्य के द्वंद्वों से मुक्त हो जाता है। उसके बाद से उसकी चैतन्यमय दृष्टि एवं अनुभूति के निकट सभी कुछ भगवान् की इच्छा और क्रिया ही बन जाता है। वह विश्व–चेतना और विश्व–शक्ति के एक स्फुलिंग और अंश के रूप में जीवन यापन करता तथा कर्म करता है; वह लोकोत्तर दिव्य आनंद किंवा आध्यात्मिक आनंद से परिपूरित हो उठता है। उसका कर्म दिव्य कर्म और उसका पद उच्च तम अध्यात्म पद बन जाता है।

–गीता प्रबन्ध

" OPEN TO DIVINITY"

The frontiers of the Ingorance shall recede,
More and more souls shall enter into light,
Minds lit, inspired, the accult summoner hear
And lives blaze with a sudden inner flame
And hearts grow enamoured of divine delight
And human wills tune to the divine will,
These separate selves the spirit's oneness feel,
These senses of heavenly sense grow capable,
The flesh and nerves of a strange ethereal joy
And mortal bodies of immortality.
A divine force shall flow through tissue and cell
And take the charge of breath and speech and act
And all the thoughts shall be a glow of suns
And every feeling a celestial thrill.
Often a lustrous inner dawn shall come
Lighting the chambers of the slumbering mind
A sudden bliss shall run through every limb
And nature with a mightier presence fill.
Thus shall the earth open to divinity
And common natures feel the wide uplift,
Illu common acts with the spirit's ray
And meet the deity in common things.
Nature shall live to manifest secret God,
The Spirit shall take up the human play,
This earthly life become the life divine.

-Sri Aurobindo